भारतीय संस्कृति के महान् संरक्षक—
स्वामी श्रद्धानंद

सन् १८९८ की बात है, 'आर्य प्रतिनिधि सभा' पंजाब ने धर्म और जातीयता की शिक्षा देने के लिए भारतवर्ष के प्राचीन आदर्श पर एक 'गुरुकुल' खोलने का प्रस्ताव पास किया। सभा में वक्ताओं ने कहा कि—"अंग्रेजी ढंग की विदेशी शिक्षा के प्रभाव से नवयुवकों में से अपने धर्म और संस्कृति की भावना दिन पर दिन घटती जाती है, वे विदेशी सभ्यता की तरफ आकर्षित होते जाते हैं। यदि इस पतनोन्मुख प्रवाह को रोकना है, तो वैदिक सिद्धांतों के अनुकूल एक आदर्श शिक्षा-संस्था की स्थापना अत्यावश्यक है।"

प्रस्ताव तो पास कर दिया गया, पर ऐसे 'गुरुकुल' के लिए धन और विद्यार्थी प्राप्त करना सहज न था। उस समय तक लोगों ने 'गुरुकुल' का नाम भी न सुना था। जब उनको प्राचीन शास्त्रों में वर्णित, ऋषि-मुनियों के उन गुरुकुलों का वर्णन सुनाया जाता था, जिनमें विद्यार्थी ब्रह्मचारी बनकर और अपने निर्वाह की व्यवस्था स्वयं करके अठारह-बीस वर्ष तक वेदादि विद्याओं का अध्ययन करते थे और उतने समय तक गुरुओं के आश्रम में ही रहते थे, तो लोग आश्चर्य करने लगते थे। वे हँसकर कहते—"श्रीमान् जी ! इस अंग्रेजी शिक्षा के जमाने में, कौन दस-बीस वर्ष तक सिर मुंड़ाकर जंगलों में रहेगा और संस्कृत जैसी 'मृत-भाषा' को पढ़ेगा।"

पर 'आर्य प्रतिनिधि सभा' के अध्यक्ष लाला मुन्शीराम जी (१८५६ से १९२६) (बाद में स्वामी श्रद्धानंद जी), जिन्होंने इस प्रस्ताव को पास कराया था, दूसरी धातु के बने मनुष्य थे। वे इस योजना में आने वाली महान् कठिनाइयों और लोगों की उदासीनता की बात को अच्छी तरह समझते थे। इसलिए प्रस्ताव के पास होते ही सभा-स्थल पर उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि "जब तक मैं गुरुकुल' के लिए तीस हजार रुपया (जो आजकल के हिसाब से

१० लाख से कम नहीं था) इकट्ठा न कर लूँगा, घर में पैर न रखूँगा।"

उस समय वे जालंधर में वकील का पेशा करते थे, जिसमें उनका अच्छा नाम और आमदनी थी। 'आर्य समाज मंदिर' के पास ही उनकी बढ़िया कोठी बनी थी। मुकदमों तथा 'समाज' के कार्य से वे प्रायः लाहौर जाया ही करते थे। जब वे वापस आते, तो उनकी घोड़ागाड़ी उनको लेने स्टेशन पर पहुँच जाती थी। उस दिन भी वे सदा की तरह स्टेशन से अपनी गाड़ी में बैठकर रवाना हुए, पर घर न जाकर कोचवान को आर्य समाज मंदिर के सामने ही गाड़ी रोकने का आदेश दिया और अपना सामान उतरवाकर वहीं ठहर गये।

जब यह समाचार कोचवान ने घर पर जाकर सुनाया, तो वहाँ खलबली-सी मच गई। ऐसा आज तक कभी नहीं हुआ ! घर भी आर्य-समाज के सामने ही बना है। दोनों के बीच में केवल सड़क का अंतर है, जो कुछ गज से ज्यादा न होगा। तब वे घर न आकर 'आर्य समाज मंदिर' में क्यों ठहर गये ? घर वाले घबराये हुए वहाँ पहुँचे, तो मुन्शीराम जी ने उनको बतलाया कि "मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि जब तक 'गुरुकुल' के लिए ३० हजार रुपया इकट्ठा न कर लूँगा, तब तक घर में पैर न रखूँगा।" यह एक ऐसे व्यक्ति की प्रतिज्ञा थी, जिसे अपने सिद्धांतों और आत्म-शक्ति पर अटल श्रद्धा थी। बस वे अपना काम-धाम छोड़कर भारत के अनेक शहरों का दौरा करने लगे और डेढ़ वर्ष में तीस हजार के बजाय चालीस हजार रुपया एकत्रित करके दिखा दिया।

इसके बाद गुरुकुल में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की समस्या सामने आई, तो उन्होंने सबसे पहले अपने दोनों पुत्रों—इंद्र और हरिश्चंद्र को उसमें दाखिल किया, फिर अपने खास मित्रों के दस-पंद्रह बच्चों को इकट्ठा किया। कनखल के पास हिमालय की तराई में 'कांगड़ी' नाम का गाँव दान में प्राप्त करके वहीं 'गुरुकुल' की स्थापना की गई। आज तो 'गुरुकुल' मामूली-सी बात बन गई है और छोटी-छोटी जातियों ने अपनी 'गुरुकुल' नामधारिणी स्वतंत्र संस्थाएँ शहरों में ही खोल ली हैं। पर आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व,

एक जंगली स्थान में, जहाँ अक्सर बाघ और जंगली हाथी भी आ जाते थे, छोटे बालकों का उत्तरदायित्व ग्रहण करके कोई शिक्षा-संस्था खोलना साधारण साहस का काम न था। पर मुन्शीराम जी इतने कर्तव्यपरायण और सेवाभावी थे कि आरंभ से ही सभी बच्चों की देख-भाल अच्छी तरह अपने बच्चों के समान ही करते थे। उन्होंने जैसे परिश्रम और संलग्नता से कार्य करके इस संस्था का निर्माण और विकास किया, उसकी कल्पना भी हम लोग नहीं कर सकते।

मातृ-भाषा का माध्यम—

गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली की मुख्य विशेषता यह थी कि वहाँ वेदाध्ययन के अतिरिक्त और सब विषय, विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि भी पढ़ाये जाते थे, पर उन सबका माध्यम हिंदी को ही रखा गया था। उस समय इस देश के विदेशी शासक ही नहीं स्वयं भारतवासी भी हिंदी को उच्च शिक्षा के लिए अयोग्य समझते थे और स्कूलों में छोटे दर्जों से ही सब विषय अंग्रेजी में पढ़ाये जाते थे। जिन अंग्रेज विद्वानों ने इस शिक्षा प्रणाली का निर्माण किया था, उनका एक गुप्त उद्देश्य यह भी था कि लगातार कुछ समय तक अंग्रेजी पढ़ते रहने से यहाँ के लोगों पर अंग्रेजी की श्रेष्ठता की छाप अपने आप पड़ जायेगी और अंग्रेजों को अपने से सब तरह से बड़ा समझकर वे उनके सामने कभी सर न उठायेंगे।

श्रद्धानंद जी ने इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लिया था और इसे अपनी जाति और अपने देश के लिए पतनकारी समझकर, इसके प्रतिकारार्थ गुरुकुल प्रणाली का प्रचलन किया था। मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा ग्रहण करना विद्यार्थियों के लिए कितना हितकर होता है—यह विचार इस समय तो कार्य रूप में परिणत हो गया है और होता जाता है। पर उस समय अंग्रेजी पढ़े-लिखों को किसी दूसरी दुनिया का श्रेष्ठ जीव समझा जाता और उनके लिए उन्नति के अनेक दरवाजे खुले रहते थे। इसके मुकाबले में हिंदी पढ़ों का भाग्य आठ रुपये महीने की पटवारीगीरी या मास्टरी से शायद ही आगे बढ़ पाता था। थोड़ी-बहुत अंग्रेजी आये बिना किसी

दफ्तर की क्लर्की भी कठिनाई से मिलती थी। ऐसे समय किसी शिक्षा-संस्था को प्राचीन आदर्श पर चलाकर और उसका माध्यम हिंदी को रखकर सफल और माननीय बना देना एक असाधारण कार्य ही था। उस स्थिति का वर्णन करते हुए श्री विष्णु प्रभाकर ने ठीक ही लिखा है—

"वे सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने के महत्त्व को समझा। सबसे पहले गुरुकुल में ही उसका क्रियात्मक रूप से परीक्षण उन्होंने किया। गुरुकुल के स्नातकों ने अनेक ऐतिहासिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक विषयों पर मौलिक ग्रंथ लिखे। पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया। बड़े-बड़े विश्वविद्यालय के संस्थापकों के दिमाग में से इस बात को दूर कर दिया कि हिंदी-भाषा के माध्यम से उच्च विज्ञान की शिक्षा नहीं दी जा सकती। तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान मि० सैडलर ने स्वीकार किया—"मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता मिली है।"

विदेशी सरकार की आशंका—

पर जहाँ एक ओर श्रद्धानंद जी के इस जातीयता के रक्षक प्रयोग को सभी देश-प्रेमी आशाभरी निगाहों से देख रहे थे, भारत की विदेशी सरकार के पेट में भय के कारण चूहे कूदने लगे। गुरुकुल की स्थापना के कुछ वर्ष बाद ही एक सरकारी गुप्त रिपोर्ट में लिखा गया था—"आर्य-समाज के संगठन में अभी जो महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है, वह वास्तव में सरकार के लिए बड़े संकट का स्रोत है। यह विकास है—गुरुकुल की शिक्षा-प्रणाली। सरकार के लिए सबसे अधिक विचारणीय प्रश्न यह है कि इस समय आर्य-समाज के गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने वाले उपदेशकों का, शिक्षा समाप्त करने के बाद, सरकार के प्रति क्या रुख होगा ? इस समय के उपदेशकों की अपेक्षा वे किसी और ही ढाँचें में ढले हुए होंगे। जिस धर्म का वे प्रचार करेंगे, उसका आधार व्यक्तिगत विश्वास और श्रद्धा होगी, जिसका जनता पर सहज में बहुत प्रभाव पड़ेगा। उनके

प्रचार में संदेह, समझौता और भय की गंध भी न होगी और सर्वसाधारण के हृदय पर उसका सीधा असर पड़ेगा।"

आगे चलकर गुरुकुल के वार्षिकोत्सव की चर्चा करते हुए कहा गया था—"काँगड़ी में मनाये जाने वाले गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर कोई ६०-७० हजार आदमी प्रति वर्ष इकट्ठे होते हैं। कई दिन तक यह उत्सव होता रहता है। पुलिस, स्वास्थ्य-रक्षा आदि का सब प्रबंध गुरुकुल के संचालक स्वयं करते हैं। सब ब्रह्मचारी स्वयं-सेवकों का काम करते हैं। संगठन की दृष्टि से यह कार्य त्रुटिरहित होता है। उत्सव पर इकट्ठे होने वालों का उत्साह भी आश्चर्यजनक होता है। बड़ी-बड़ी रकमें दान में दी जाती हैं। काफी संख्या में उपस्थित होने वाली स्त्रियाँ आभूषण तक दे डालती हैं। एक विचारणीय विषय यह है कि गुरुकुल से निकले हुए इन ब्रह्मचारियों का राजनीति के साथ क्या संबंध रहेगा ? इस संबंध में गुरुकुल के एक अधिकारी का कथन है कि हमारी शिक्षा सर्वांश में राष्ट्रीय है। यहाँ इतिहास इस प्रकार पढ़ाया जाता है, जिससे ब्रह्मचारियों में देश-भक्ति की भावना उद्दीप्त हो। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि गुरुकुल में यत्नपूर्वक ऐसे राजनीतिक संन्यासियों का दल तैयार किया जा रहा है, जिसका मिशन सरकार के अस्तित्व के लिए भयानक संकट पैदा कर देगा।"

एक विदेशी सरकार के लिए ऐसा मनोभाव प्रकट करना सर्वथा गलत भी न था। यद्यपि अपनी राष्ट्रीयता तथा जातीयता की रक्षा प्रत्येक जाति और व्यक्ति का पवित्र कर्तव्य माना जाता है, पर जिसके स्वार्थ पर उसके कारण धक्का लगेगा, वह तो उसे बुरा बतलायेगा ही। इस स्थिति की वास्तविकता क्या थी, इसका ठीक पता एक अन्य बड़े अंग्रेज मि० रेम्जे मैकडानल के लेख से लगता है, जो उस समय विलायत के मजदूर दल के एक प्रमुख नेता थे और बाद में इंगलैंड के प्रधानमंत्री भी बने। उन्होंने सन् १९१४ में गुरुकुल को देखने के बाद लंदन से प्रकाशित होने वाले 'डेली क्रानिकल' नामक पत्र में लिखा था—

"भारत के राजद्रोह के संबंध में जिन्होंने कुछ थोड़ा-सा भी पढ़ा है, उन्होंने 'गुरुकुल' का नाम अवश्य सुना होगा, जहाँ

आर्यसमाजियों के बालक शिक्षा ग्रहण करते हैं। अधिकांश ऐंग्लो-इंडियन लोगों ने इसकी निंदा की है। सरकारी लोगों के लिए भी गुरुकुल एक पहेली है। वहाँ के अध्यापकों में एक भी अंग्रेज नहीं है। अंग्रेजी साहित्य की पढ़ाई और उच्च शिक्षा के लिए पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा नियत की गई पुस्तकें भी वहाँ काम में नहीं लाई जातीं। सरकारी विश्वविद्यालय की परीक्षा के लिए वहाँ से किसी भी विद्यार्थी को नहीं भेजा जाता, उनको विद्यालय से अपनी ही उपाधियाँ दी जाती हैं। सचमुच यह सरकारी अवज्ञा है। घबराये हुए सरकारी अधिकारी के मुँह से पहली बात यह निकलेगी कि यह स्पष्ट राजद्रोह है, पर गुरुकुल के विषय में यही राय अंतिम नहीं मानी जा सकती। सन् १८३५ में मैकाले ने भारत की शिक्षा-प्रणाली के संबंध में अपना जो अभिमत प्रकट किया था, उसके पश्चात् भारत के शिक्षा-क्षेत्र में यह भिन्न प्रकार का पहला ही प्रशस्त यत्न किया गया है। मैकाले की शिक्षा-नीति से प्रायः सभी भारतवासी असंतुष्ट हैं, किंतु जहाँ तक मुझे मालूम हो सका है, गुरुकुल के संस्थापकों के सिवाय किसी और ने उस असंतोष को कार्यरूप में परिणत करते हुए शिक्षा के क्षेत्र में नया परीक्षण नहीं किया।"

समाज-सुधार के क्षेत्र में—

गुरुकुल ने भारतीय-समाज-सुधार के क्षेत्र में भी अप्रत्यक्ष रीति से जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया था, उस पर प्रकाश डालते हुए सन् १९१४ में ही लंदन के 'न्यू स्टेट्समैन' पत्र ने लिखा था—

"हरिद्वार का गुरुकुल संभवतः संसार के शिक्षा-क्षेत्र में सबसे अधिक मनोरंजक परीक्षण है। गंगा के मनोहर दृश्यों के बीच, हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों के नीचे, सांसारिक वातावरण से बहुत दूर एक आश्रम बना हुआ है। केवल जीवन-निर्वाह पर आचार्य, उपाध्याय और सब अध्यापक काम करते हुए गरीबी का जीवन बिताते हैं, यद्यपि उनमें से बहुत से बाल-बच्चों वाले गृहस्थ भी हैं। सात वर्ष की आयु में बालकों को यहाँ लिया जाता है और २५ वर्ष की आयु तक रखा जाता है। वे बीच में एक बार भी घर नहीं जा सकते और न कभी किसी स्त्री के साथ रह सकते हैं। वे

दिन-रात अपने अध्यापकों के निरीक्षण और संगति में रहते हैं। २५ वर्ष की आयु में समझा जाता है कि वे देश के पूरे सेवक बन गये। भारतीय दृष्टिकोण से उक्त संस्था की सबसे बड़ी विशेषता जाति-पाँत के भेदभाव को मिटाना है। वहाँ ३०० बालकों में ब्राह्मण से लेकर अछूतों तक सभी जातियों के बालक हैं। सबका एक-सा जीवन और एक-सा रहन-सहन है। जाति-पाँत का भेदभाव भारत में खूब गहरी जड़ें पकड़े हुए है। पश्चिम की शिक्षा और आदर्शों के सहारे भी उसकी जड़ों को खोदना कठिन है। परंतु वहाँ गुरुकुल में उसकी जड़ें बड़ी सफलता के साथ काट दी गई हैं। यह कार्य पश्चिम का अनुकरण करके नहीं किया गया है, वरन् पूर्व के प्राचीन और सुदंर आदर्शों को पुनर्जीवित करने की दृष्टि से ही किया जा रहा है।"

वास्तव में यह स्वामी श्रद्धानंद जी की एक महान् सेवा थी कि उन्होंने बिना कुछ कहे-सुने क्रियात्मक रूप में एक ऐसा कदम उठाया, जिससे हिंदू-समाज के इस भयंकर कोढ़—जाति-पाँति की जड़ पर जोरदार प्रहार कर दिया गया। गुरुकुल में केवल समस्त हिंदुओं के साथ ही खान-पान की समानता का बर्ताव नहीं किया जाता था, वरन् समय-समय पर वहाँ कितने ही विदेशी और डॉ० अंसारी, मि० जिन्ना, डॉ० किचलू, आसफअली जैसे प्रसिद्ध मुसलमान भी ब्रह्मचारियों की पंक्ति में बैठकर भोजन कर आये थे।

स्वामी जी इस जात-पाँत की बुराइयों को आरंभ से ही जानते थे और जब से उन्होंने आर्य-समाज में प्रवेश किया था, उन्हें इससे संघर्ष भी करना पड़ा था। उस जमाने में पंडित लोग आर्य-समाज को हिंदू-धर्म से बाह्य मानते थे और अनेक स्थानों में उन्होंने आर्यसमाजियों को जातिच्युत कराने का प्रयत्न भी किया था। स्वामी जी को भी जब उन लोगों ने आर्य-समाज का प्रचार दिन पर दिन बढ़ाते देखा, तो इनके विरोधी बन गये। पहले तो उन्होंने इनसे शास्त्रार्थ करने को कहा, पर उसमें उनको निरुत्तर हो जाना पड़ा, जिससे समाज का प्रचार और भी जोर पकड़ गया। तब पेशेवर पंडितों ने इनको जाति-बहिष्कार की धमकी दी और एक पंचायत बुलाई। स्वामी जी और उनके सहयोगी लाल देवराज

ने इससे जरा भी न घबड़ाकर दुराचारी पंडितों और निरक्षर ब्राह्मणों की एक सूची बनाई और प्रमुख पंडितों को खबर दी कि हम ढोंगी पंडितों से तनिक भी नहीं डरते और यदि वे ज्यादा बदमाशी करेंगे, तो उलटी उन्हीं की सब पोल खोल दी जायेगी। इससे पंचायत की धमकी देने वाले डर गये और चुपचाप जालंधर से चले गये।

जब लाहौर में "जात-पाँत तोड़क मंडल" का अधिवेशन किया गया, तो उसका अध्यक्ष श्रद्धानंद जी को बनाया गया। उस अवसर पर भाषण करते हुए उन्होंने कहा—

"यदि मुझे पता होता कि आर्य-समाजी जाति-पाँति तोड़ने से इतना डरते हैं, तो मैं गुरुकुल के स्थान पर 'जात-पाँत तोड़क मंडल' की ही स्थापना करता।"

उन्होंने यह बात मुँह से ही नहीं कही, वरन् अपने दोनों पुत्रों और पुत्री का विवाह भी जात-पाँत तोड़कर अंतर्जातीय ही किया और इसलिए अपने संबंधियों के कड़े विरोध तथा अन्य कठिनाइयों को सहन किया। उनकी पुत्री के विवाह के अवसर पर तो एक आर्य-समाज के नेता ने यहाँ तक कहा कि—"मुन्शीराम जी अपनी महत्त्वाकांक्षा पर लड़की की कुर्बानी कर रहे हैं।" पर धन्य है वह आत्मिक दृढ़ता कि फिर भी अपने संकल्प से पीछे न हटे। क्या हमारे धर्म और समाज के सेवक कहलाने वाले इस उदाहरण से कुछ प्रेरणा ग्रहण करेंगे ?

इस घटना के फल से स्वामी जी और उनके सहयोगियों का उत्साह और भी बढ़ गया और वे हिंदू-जनता को सभी विधर्मियों के खिलाफ समझाने लगे। जालंधर के दशहरे के मेले में ईसाई पादरी अपना प्रचार बड़े जोरों से करते थे। पर स्वामी जी ने अपना वैदिक धर्म का प्रचार इतना बढ़ा दिया कि उससे ईसाई पादरियों का जोर बहुत घट गया।

यह सब होते हुए भी श्रद्धानंद जी ने यह सावधानी रखी कि अनेक अंग्रेज अफसरों और उत्तर प्रदेश के गवर्नर तक के गुरुकुल में आकर उसकी सराहना करने पर भी सरकार से अपनी संस्था का किसी प्रकार का संबंध नहीं होने दिया। स्वयं सरकार द्वारा

इच्छा प्रकट करने पर भी उससे किसी प्रकार की आर्थिक सहायता नहीं ली। इस संबंध में स्वयं स्वामी जी ने अपना अनुभव इस प्रकार प्रकट किया था—

"गुरुकुल अपने जन्म-दिन से अब तक नौकरशाही के जाल से बचा हुआ अपना काम करता आया है ? इसके संचालकों को क्या-क्या प्रलोभन नहीं दिये गये। जिन सुनहरी जंजीरों को अन्य शिक्षणालयों ने बड़ी खुशी से पहन लिया है, मन लुभाने वाली वे जंजीरें न जाने कितनी बार हमारे सामने पेश की गईं ? पर परमेश्वर ने हमको ऐसी दासता से बचने की बुद्धि दी।"

फिर भी बीच-बीच में आपके सामने कठिन परीक्षायें आती रहीं, जिनका मुकाबला साहस के साथ करके पार पाया गया। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को शुरू के वर्षों में घोड़े की सवारी और धनुष-बाण की शिक्षा दी जाती थी। इससे सरकार को संदेह हुआ कि कहीं उसके विरुद्ध कोई षड्यंत्र तो नहीं रचा जा रहा है। उसकी तरफ से इस संबंध में काफी जाँच-पड़ताल की गई। सन् १९०७ में जब भारतव्यापी राजनीतिक आंदोलन भड़का और आर्य-समाज के नेता माने जाने वाले लाला लाजपतराय को राजद्रोह के अभियोग में निर्वासित कर दिया गया, तो सरकार की कुदृष्टि सभी आर्यसमाजियों पर पड़ी। इससे भयभीत होकर अनेक आर्यसमाजी नेताओं ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि 'आर्य-समाज का राजनीति से कोई संबंध नहीं है।' पर स्वामी श्रद्धानंद जी ने लाहौर आर्य-समाज के उत्सव पर लाला लाजपतराय पर स्पष्ट रूप से विश्वास प्रकट किया और सरकार की धमकियों की कुछ भी परवाह न की।

मातृ-भाषा का प्रचार—

स्वामी जी के मातृ-भाषा प्रचार के कार्य को देखकर सन् १९१३ में उन्हें भागलपुर में होने वाले चौथे हिंदी साहित्य सम्मेलन का सभापति बनाया गया। वैसे यह पद हिंदी के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों को दिया जाता था और स्वामी जी हिंदी की अपेक्षा उर्दू-फारसी ही अधिक पढ़े थे। पर गुरुकुल द्वारा उन्होंने हिंदी की

सेवा का जो कार्य उठाया था, वह बड़े-बड़े विद्वानों की योग्यता से भी बढ़कर माना गया। उस समय आपकी प्रशंसा करते हुए 'लीडर' (प्रयाग) ने लिखा था "महात्मा मुन्शीराम जी (स्वामी जी का पूर्व नाम) इतने विख्यात हैं कि उनकी प्रशंसा करना व्यर्थ है। जिस सम्मेलन का ऐसा सभापति हो, उसको अवश्य ही सफलता और सहायता प्राप्त होगी।" अपने भाषण में स्वामी जी ने मुख्य बात यह कही—

"हमारी सभ्यता के तीन प्रधान चिह्न हैं—अहिंसा, मातृशक्ति का सत्कार और ब्राह्मणत्व। ये तीनों गुण पराई भाषा द्वारा विकसित नहीं हो सकते। इसलिए हम परकीय भाषा अपनायेंगे, तो हम भ्रष्ट हो जायेंगे, एक राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकेंगे।"

जिस समय देश में हिंसात्मक आंदोलन चल रहा था, उस समय अहिंसा का उल्लेख करना, स्त्रियों को उच्च स्थान देना तथा सच्चे ब्राह्मणत्व (ज्ञानी जन) का उत्थान जैसी मूलभूत बातों की ओर प्रेरणा दिलाना स्वामी जी की दूरदर्शिता का परिचायक था। वे स्वयं आरंभ से इसी मार्ग पर चलते आये थे। उन्होंने सन् १८६० में ही इस स्थिति को समझ लिया था और जालंधर में 'कन्या महाविद्यालय' की नींव डाल दी थी। उसकी घटना भी बड़ी प्रेरणाजनक है। उस समय लड़कियों की शिक्षा की कोई व्यवस्था न होने से उन्होंने अपनी लड़की को 'मिशन स्कूल' में पढ़ने को भेजा था। एक दिन वह कन्या घर पर आकर यह गाना गाने लगी—

तू तो ईसा-ईसा बोल।
तेरा क्या लगेगा मोल।।
ईसा मेरा राम रमैया।
ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया।।

यह सुनते ही उनके कान खड़े हो गये कि ईसाई स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने का यही परिणाम होगा। उन्होंने उसी समय निश्चय किया कि एक 'आर्य कन्या पाठशाला' की स्थापना की जाय, जिसमें अपने धर्म के अनुकूल शिक्षा दी जाय। उन्होंने इसके लिए अपील निकाली। लाला देवराज उनको इस कार्य में सहयोगी

मिल गये। थोड़े ही समय में पाठशाला चल निकली और आज वह 'कन्या महाविद्यालय, जालंधर' के रूप में समस्त भारतवर्ष की एक प्रसिद्ध और माननीय स्त्री-शिक्षा संबंधी संस्था है। यदि यह कहा जाए कि हिंदी प्रांतों में स्त्री-शिक्षा की प्रगति का एक बहुत बड़ा स्रोत यही शिक्षा संस्था रही है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। आज से साठ-सत्तर वर्ष पहले भी इसमें समस्त भारत से ही नहीं समुद्र पार के देशों से भी हिंदू कन्यायें शिक्षा ग्रहण करने आती थीं।

पाठकगण ! ये वही 'श्री मुंशीराम' थे, जो बनारस में मंदिरों की दुर्दशा और ठगलीला देखकर स्वयं ईसाई बनने को तैयार हो गये थे। वे उस समय 'फादर लीफ' नामक पादरी की युक्तियों और प्रेरणा से 'बपतिस्मा' लेने को गिरजाघर पहुँचे थे। पर अकस्मात् एक ईसाई पादरी तथा 'नन' (ईसाई महिला ब्रह्मचारिणी) का भ्रष्टाचार देखकर वापस लौट आये।

इसके पश्चात् उन्होंने मथुरा में भी पंडा और पुजारियों की जो लीला देखी, उससे उन्हें 'पौराणिक-धर्म' से और भी विरक्ति हो गई। जब उनके पिता ने वहाँ के चौबों से भोजन के लिए कहा, तो उन्होंने उत्तर दिया कि—"मन के चार चाहिए या दस।" जब वे इस पहेली को न समझ सके, तो चौबों ने ही समझाया कि "आप एक मन में चार चौबों अर्थात् दस सेर भोजन करने वालों को बुलाना चाहते हैं अथवा चार-चार सेर खाने वाले दस चौबों को।" उन चौबों को भाँग के नशे में चूर देखकर इनको उनसे बड़ी घृणा हो गई। इसके साथ ही वहाँ के गोकुलिए गुसाँइयों के मंदिरों में व्यभिचार-लीलायें देखीं। इन सब बातों के कारण इनका मन 'धर्म' से बिल्कुल हट गया और कुछ समय के लिए ये एक प्रकार से नास्तिक हो गये। बाद में स्वामी दयानंद जी के उपदेश सुनने से उनके विचार बदले और वे 'आर्य-समाज' के पक्के सदस्य बन गये।

पंजाब में हिंदू-संस्कृति और हिंदी की रक्षा—

यदि विचार किया जाय तो यह मालूम पड़ता है कि पंजाब की काया पलट करके उसमें जातीयता और धार्मिकता की भावना को जाग्रत् करने का श्रेय बहुत कुछ श्रद्धानंद जी को ही है। गत ढाई हजार वर्षों में यूनानियों से लेकर पठानों और मुगलों तक के हमलों का पहला वार पंजाब को ही झेलना पड़ा था। भारत के भाग्य का निर्णय करने वाले पानीपत के तीनों युद्ध उसी की भूमि पर लड़े गये और पठान तथा मुगल शासन का दौरदौरा वहीं पर रहा। इन सब प्रहारों ने पंजाबियों को सुदृढ़ और संघर्षशील तो बना दिया, पर हमेशा मरने-मारने और विधर्मियों के साथ रहने से भारतीय सभ्यता और संस्कृति को वे बहुत कुछ भूल गये। अंग्रेजों ने भी इस तथ्य को पहचाना और पंजाबियों को आरभ से ही अपने साथ मिलाकर रखने का प्रयत्न किया। खासकर सन् १८५७ के गदर में पंजाब की सेना ने जिस प्रकार दिल खोलकर अंग्रेजों की सहायता की और उनके डगमगाते हुए राज्य को बचाया, तबसे उन्हें यह विश्वास हो गया कि पंजाब की भूमि उनके साम्राज्य की जड़ें मजबूत करने में विशेष रूप से सहायक हो सकती है। इसलिए वे लोग बड़े प्रयत्न से वहाँ अंग्रेजियत, ईसाइयत और फैशनपरस्ती आदि को बढ़ावा देते रहे, जिससे वहाँ के युवक अपनी जातीयता की तरफ ध्यान न देकर सांसारिक भोग-विलास की तरफ आकर्षित बने रहें और इसकी पूर्ति के लिए अंग्रेजों की नौकरी करके उनके राज्य को मजबूत बनाते रहें।

पंजाब में जातीयता के अभाव का एक बड़ा कारण यह भी था कि वहाँ की जन-भाषा उर्दू हो गई थी और वे लोग हिंदी से प्रायः अपरिचित थे। जैसा हम जानते हैं कि भाषा और संस्कृति का बड़ा संबंध है और भाषा के माध्यम से ही हमारे विचार तथा भावनायें दृढ़ बनती हैं। जो लोग उर्दू-फारसी आदि पढ़कर उन भाषाओं के साहित्य में वर्णित भावों तथा कथाओं आदि की चर्चा करते रहते हैं—उनमें, और जो हिंदी-संस्कृत तथा इन्हीं से निकली अन्य भारतीय भाषाओं को पढ़ते हैं, उनके—विचारों में कितना

अंतर होता है ? इसका कुछ आभास एक जातीयता प्रेमी महाकवि की इन दो-चार पंक्तियों से हो सकता है—

भीम, अर्जुन की जगह पर गैब रुस्तम को बिठा।
सभ्य लोगों में नहीं दृग आप सकते हैं उठा।।
कर्ण की ऊँची जगह जो हाथ हातिम के चढ़ी।
तो समझ लो ढह पड़ेगी आपकी गौरव गढ़ी।।
क्या हसन की मसनवी पर आप होकर मुग्ध मन।
फेंक देंगे हाथ से वह दिव्य रामायन रतन।।

बस ऐसी ही दशा आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व पंजाब की हो चुकी थी। धार्मिक पुस्तकों से प्रेम होने के कारण वहाँ की इक्की-दुक्की स्त्रियाँ भले ही थोड़ी-सी हिंदी पढ़ लेती हों, अन्यथा पुरुषों में सोलह आना उर्दू का प्रचार था, जिसका नमूना अब भी किसी पुराने आदमी में देखा जा सकता है। ऐसे वातावरण में धर्म और जातीयता के प्रचार का व्रत ग्रहण करके श्रद्धानंद जी ने देखा कि धर्म-प्रचार का कार्य भी बिना भाषा-प्रचार के नहीं हो सकता, क्योंकि हिंदू धर्म की सभी पुस्तकें हिंदी या संस्कृत में ही हैं। इसलिए उन्होंने सबसे पहले अपने निवास-स्थान जालंधर में ही इन दोनों के प्रचार का कार्य आरंभ किया। इसके लिए एक उच्च पदस्थ और प्रसिद्ध व्यक्ति होते हुए भी उन्होंने कैसे-कैसे अति सामान्य तरीके अपनाये ? इसका वर्णन करते हुए अफ्रीका निवासी श्री भक्तराम शर्मा ने अपने अनुभवों में लिखा है—

"महात्मा मुन्शीराम वर्षों तक इकतारा बजाकर प्रातःकाल जालंधर की गलियों में भजनों व दोहों द्वारा प्रचार करते रहे। उन्हें भिखारी समझकर कुछ देवियाँ अन्न-वस्त्र दे देतीं, तो वे उसे लाकर आर्य-समाज में जमा कर देते थे। यह याद रखना चाहिए कि जालंधर में ही उनकी ससुराल थी। पर उन्होंने कभी झूठी लज्जा अनुभव नहीं की। है किसी को प्रचार की ऐसी लगन।"

समाज-सेवा के क्षेत्र में पदार्पण करने वालों के लिए श्रद्धानंद जी का आदर्श निःसंदेह बड़ा प्रेरणात्मक है। लोग शौक से, या इष्ट-मित्रों के आग्रह से सार्वजनिक संस्थाओं के कार्यकर्ता तो बन

जाते हैं, पर कदम-कदम पर उनको कठिनाइयाँ दिखाई पड़ती हैं। उनके हृदय में छोटे-बड़े की भावना हमेशा काम करती रहती है और वे अन्य कार्यकर्ताओं से सहयोग का भाव रखने की अपेक्षा प्रतियोगिता का विचार अवश्य रखते हैं। परिणाम यही होता है कि बाहरी लोगों को संस्था का ऊपरी ठाठ-बाट और धूमधाम भले ही कुछ देर के लिए आकर्षित कर ले, पर उसकी भीतरी शक्ति सदैव न्यून ही रहती है। इसके विपरीत जिन संस्थाओं के कार्यकर्ता, चाहे उनकी संस्था किसी साधारण मकान में गरीबी के वातावरण में ही क्यों न चलती हो, इस प्रकार की अहंमन्यता से दूर रहते हैं और यश-मान की चिंता न करके कुछ ठोस सेवा का कार्य करने में ही आनंद का अनुभव करते हैं, उसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं। वास्तव में बहुत बड़ा कोश या आलीशान इमारतें किसी संस्था की महानता के चिह्न नहीं होते, सच्चे और हृदय में परमेश्वर की भावना रखने वाले कार्यकर्ता ही उसके प्राण कहे जा सकते हैं।

देश के स्वाधीनता आंदोलन में—

इस प्रकार से श्रद्धानंद जी का संबंध राष्ट्रीय कांग्रेस से शुरू से ही था और जब सन् १८८५ में उसकी स्थापना हुई, तभी उन्होंने जालंधर में कांग्रेस कमेटी की स्थापना की। उस समय सर सैयद अहमद खाँ मुसलमानों के नाम पर कांग्रेस का विरोध कर रहे थे। इसलिए जालधर के मुसलमानों ने अपने यहाँ कांग्रेस कमेटी को रोकने की कोशिश की और कई प्रकार से उसका विरोध किया, पर धुन के पक्के श्रद्धानंद जी ऐसे विघ्नों की कब परवाह करते थे ? उन्होंने वहाँ कांग्रेस कमेटी का काम धूमधाम से चलाकर दिखा ही दिया।

पर इसके पश्चात् वे आर्य-समाज तथा गुरुकुल के कार्यों में लग गये और कांग्रेस का कार्य उन्हीं के साथी, आर्य-समाज के नेता, लाला लाजपतराय जी के हिस्से में चला गया। जानकार लोगों की सम्मति है कि "लाला लाजपतराय जी ने अंग्रेजों को हटाने का उद्देश्य सामने रखा और श्रद्धानंद जी ने 'अंग्रेजियत' को मिटाने के उद्देश्य को अपनाया।" पर जब १९१९ में महात्मा गांधी ने कांग्रेस

की कायापलट करके अंग्रेजों से पूर्ण असहयोग का आंदोलन आरंभ किया, तो स्वामी जी ने आगे बढ़कर उसमें भाग लिया और पहली बार ही वह काम कर दिखाया, जिससे राजनीतिक इतिहास में उनका नाम अमर हो गया।

महात्मा गांधी ने असहयोग का शंख बजाया और उसका श्रीगणेश करने के लिए ३० मार्च १९१९ को देशव्यापी हड़ताल की घोषणा की गई। दिल्ली में भी पूरा कारोबार बंद रहा, केवल एक ठेकेदार ने दुकान बंद करने से इनकार किया और पुलिस ने वहाँ धरना देने वाले दो स्वयं सेवकों को गिरफ्तार कर लिया। शाम को विशाल सभा में इस घटना की भी चर्चा की गई और लोगों में कुछ उत्तेजना फैल गई। पर स्वामी जी सबको शांत रहने को कहते रहे। सभा में से २०-२५ हजार व्यक्तियों का समूह जुलूस के रूप में चला। जब वह चाँदनी चौक में घंटाघर के पास पहुँचा, तो एकाएक गोली चलने की आवाज आई। लोगों में हलचल और उत्तेजना बढ़ गई, पर स्वामी जी ने आगे बढ़कर सबको शांत किया और फौजी सिपाहियों से कहा—"तुमने गोली क्यों चलाई ?"

स्वामी जी के प्रश्न का उत्तर देने के बजाय सिपाहियों ने बंदूक में लगी संगीन उनकी छाती की तरफ तानकर कहा—"हट जाओ, नहीं तो अभी छेद देंगे।"

स्वामी जी ने अपना वस्त्र हटाकर सीना खोल दिया और एक कदम आगे बढ़कर बड़े ऊँचे स्वर से कहा—"मार दो !" उस समय संगीनों की नोंक उनकी छाती को छू रही थी।

इतने में फौज का अंग्रेज अफसर घोड़ा बढ़ाकर वहाँ पहुँचा। उसे देखकर सिपाहियों ने बंदूकें नीची कर लीं। स्वामी जी ने अफसर से पूछा—"गोली क्यों चलाई गई ?"

अफसर ने धीरे से कहा—"गोली भूल से चल गई थी" और वह अपने सिपाहियों को लेकर रास्ते से हट गया। जुलूस शांतिपूर्वक आगे निकल गया। यह घटना तो कुछ मिनटों में समाप्त हो गई, पर इसका प्रभाव दूर-दूर तक हुआ। उसी दिन अमृतसर में जलियाँवाला बाग में जनरल डायर द्वारा ऐतिहासिक हत्याकांड किया गया। दिल्ली में भी वैसा ही अवसर आ गया था, पर स्वामी

श्रद्धानंद जी के कुशल नेतृत्व और अप्रतिम साहस के कारण वह टल गया। इसके फल से स्वामी जी उस समय नेताओं की सबसे अगली पंक्ति में आ गये और जनता उनको अपना रक्षक समझ कर पूजने लगी। उस अवसर पर मुसलमानों ने भी सब भेदभाव भूलकर दिल्ली की जगत् प्रसिद्ध जामा मस्जिद में उनको भाषण करने को बुलाया।

वह एक अद्‌भुत दृश्य था जब एक आर्य-संन्यासी ने गेरुवा वस्त्र धारण किये हुए जामा मस्जिद के मुंबर (इमाम के स्थान) पर खड़े होकर **"त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता"** वाला ऋग्वेद का मंत्र बोलकर हिंदू-मुसलमानों को समझाया—"धर्म प्रेम और उदारता की शिक्षा देता है। छोटी-छोटी बातों पर हठ करना नासमझी है।" उसके कुछ ही दिन बाद अंग्रेजी सरकार की चालों से फिर 'हिंदू-मुस्लिम' दंगे शुरू हो गये, पर मुसलमानों के सर्व प्रधान धार्मिक स्थान में स्वामी श्रद्धानंद जी का भाषण जनता की स्मृति में अमिट बन गया।

अछूतोद्धार आंदोलन—

इसके पश्चात् उसी वर्ष अमृतसर में कांग्रेस का वार्षिकोत्सव होने का अवसर आया। उस समय जलियाँवाला बाग के हत्याकांड के कारण वहाँ सर्वत्र आतंक छाया हुआ था और कोई राजनीतिक कार्य में भाग लेने या चंदा देने के लिए तैयार न होता था। कांग्रेस-अधिवेशन को सफल बनाना टेढ़ी खीर नजर आने लगा। तब स्वागत समिति की अध्यक्षता स्वामी श्रद्धानंद जी को ही दी गई और उन्होंने अपने अतुल प्रभाव और कर्मवीरता से कुछ ही दिनों में वहाँ की कायापलट कर दी। कांग्रेस का अधिवेशन स्व० मोतीलाल जी नेहरू की अध्यक्षता में धूमधाम से हुआ और स्वामी जी ने अपना स्वागताध्यक्ष का भाषण हिंदी में पढ़ा, जो उस 'अंग्रेजी-प्रधान संस्था' में एक नई बात थी। दूसरी विशेषता उस भाषण की यह थी कि उसमें राजनीति के साथ भारत की सामाजिक समस्याओं का भी समन्वय करके कहा गया था—

"लंदन नगर में भारत-रिफार्म कमेटी के सामने गवाही देते हुए ईसाई मुक्ति-फौज के बूथ टकर साहब ने कहा था कि भारत के साढ़े छह करोड़ अछूतों को विशेष अधिकार मिलने चाहिए। इसका कारण उन्होंने यह बतलाया कि "ये अछूत भारत में ब्रिटिश गवर्नमेंट रूपी जहाज के लिए लंगर हैं।" इन शब्दों पर गहरा विचार कीजिए और सोचिये कि किस प्रकार आपके ये साढ़े छह करोड़ भाई, जिन्हें आपने काटकर फेंक दिया है, एक विदेशी राज्य के लंगर बन सकते हैं ? मैं आप सब बहिनों और भाइयों से एक ही प्रार्थना करूँगा कि इस पवित्र जातीय मंदिर में बैठे हुए, अपने हृदयों को मातृभूमि के प्रेम-जल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो—"आज से वे साढ़े छह करोड़ हमारे लिए अछूत नहीं रहेंगे, बल्कि हमारे ही भाई और बहिन होंगे। उनकी पुत्रियाँ और पुत्र हमारी पाठशालाओं में पढ़ेंगे। उनके गृहस्थ नर-नारी हमारी सभाओं में सम्मिलित होंगे। हमारे स्वतंत्रता-युद्ध में वे हमारे कंधे से कंधा जोड़ेंगे और हम सब एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए अपने जातीय उद्देश्य को पूरा करेंगे। हे देवियों और सज्जन पुरुषों ! मुझे आशीर्वाद दो कि परमेश्वर की कृपा से मेरा यह स्वप्न पूरा हो।"

पर जब कुछ ही समय बाद कोकोनाड़ा की कांग्रेस में उन्होंने मौलाना मुहम्मद अली को यह कहते सुना कि "अछूत तो लावारिस माल हैं, हिंदू और मुसलमानों को उन्हें आधा-आधा बाँट लेना चाहिए" तो स्वामी जी के दिल को बड़ी चोट लगी और कांग्रेस के साथ उनका मतभेद हो गया। वे राजनीतिक स्वतंत्रता के समर्थक थे, पर 'हिंदुत्व' की रक्षा करना भी उनका अटल ध्येय था। इसलिए उन्होंने कुछ ही समय बाद 'हिंदू संगठन' का कार्य आरंभ किया, ताकि वे अपनी जाति की दुर्बलताओं को मिटाकर उसको अपनी रक्षा कर सकने के योग्य बना सकें।

उन्होंने देखा कि दिल्ली के आस-पास के गाँवों में ईसाई प्रचारक खासतौर पर चमारों को अपने जाल में फँसाकर 'अहिंदू' बनाते रहते हैं। यह देखकर उन्होंने 'दलितोद्धार सभा' स्थापित करके आरंभ में दिल्ली प्रांत में और बाद में देश के अन्य भागों में भी उसकी शाखायें स्थापित कीं और अछूतों को नागरिक-अधिकार

दिलाने में बहुत कुछ उद्योग किया। महात्मा गाँधी भी इससे बहुत प्रभावित हुए थे और उन्होंने स्वामी जी के कार्य की सराहना करते हुये लिखा था—"वे इसमें अधूरा सुधार करना पसंद नहीं करते थे। अगर उनकी चलती तो वे बात ही बात में हिंदू धर्म से अस्पृश्यता को निकाल बाहर करते। वे हरेक मंदिर को, हरेक कुएँ को बराबरी के हक के साथ अछूतों के लिए खोल देते और इसका जो फल होता उसे भी भुगत लेते।

शुद्धि और संगठन—

इसी समय एक और घटना हुई। ख्वाजा हसन निजामी नामक मुसलमान लेखक ने 'दार-ए इस्लाम' नाम की पुस्तक लिखी, जिसमें हिंदुओं को मुसलमान बनाने, खासकर हिंदू-विधवाओं को बहका कर निकाल लेने की युक्तियों का वर्णन किया गया था। यह पुस्तक गुप्त रूप से केवल मुसलमानों को दी जाती थी। पर दक्षिण अफ्रीका में इसकी दो-एक प्रतियाँ आर्यसमाजी विचारों के व्यक्तियों को मिल गई और उन्होंने इसे भारत के प्रधान आर्य समाजी नेताओं के पास भेज दिया। इसका सारांश समाचार पत्रों में छपा और ट्रैक्ट के रूप में प्रचारित किया गया। इससे हिंदुओं में बड़ी सनसनी फैल गई और संगठन करके हिंदुओं की रक्षा तथा गैर-हिंदुओं को शुद्ध करके अपने में मिलाने का आंदोलन आरंभ किया गया। इसके प्रधान संचालक भी स्वामी जी ही बने और उन्होंने "भारतीय शुद्धि सभा" की स्थापना की।

यह निश्चय किया गया कि आगरा, मथुरा, भरतपुर आदि में निवास करने वाले मलकाना राजपूतों को जो, कुछ सौ वर्ष पहले मुसलमान बादशाहों द्वारा जबरदस्ती मुसलमान बनाये गये थे, पर अभी तक हिंदुओं की बहुत-सी रस्मों को मानते चले आते हैं और फिर से हिंदू बनने के इच्छुक हैं, शुद्ध करके अपने में शामिल कर लिया जाय। इन लोगों की संख्या पाँच लाख के करीब थी और इस आंदोलन का संचालन विशेष रूप से आगरा की आर्य समाज के जिम्मे था। वहाँ इसके लिए एक बड़ा सम्मेलन किया गया, जिसमें स्वामी श्रद्धानंद जी भी सम्मिलित हुए। उन्होंने मलकाना राजपूतों

से बातचीत करके उनकी इच्छा को भली प्रकार समझ लिया और तब 'शुद्धि' की अनुमति दे दी। इससे देश भर के हिंदुओं में जोश और एक नई जाग्रति फैल गई, पर साथ ही मुसलमान उनके विरोधी बन गये। स्वामी जी अपने मार्ग से कब हटने वाले थे ? शुद्धि और संगठन के काम को दिन पर दिन बढ़ाने लगे। इससे एक ओर जहाँ हिंदू मजबूत होते गये, वहाँ मुसलमानों का बैर-भाव भी बढ़ता चला गया, जो अंत में स्वामी जी का बलिदान लेकर ही माना।

सर्वस्व-त्याग का उदाहरण—

स्वामी जी ने अपने गृहस्थ जीवन में भी कभी धन-संग्रह की तरफ ध्यान नहीं दिया था। आरंभ से ही वे सार्वजनिक सेवा का कार्य करने लगे थे, इसलिए जिस प्रकार अन्यों से चंदा माँगकर लाते थे, उसी प्रकार अपनी आय का भी एक बड़ा अंश उसमें लगा देते थे। वकालत के जोरों से चलने पर भी उन्होंने जालंधर में अपने निवास के लिए एक बड़ी-सी कोठी बनाने के अतिरिक्त और कोई संग्रह का कार्य नहीं किया। जब गुरुकुल खोला तो अपनी सभी सामग्री उसी में लगा दी, केवल कोठी में अन्य घर वाले रहते थे। पर समय आया, जब उनको विदित हुआ कि सच्चे कार्यकर्ता को पूर्ण त्याग करना भी आवश्यक है। इस घटना का जिक्र करते हुये उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था—

"मैं गुरुकुल के लिए धन-संग्रह करते हुए दिल्ली के एक रईस के घर चंदा माँगने पहुँचा। वह रईस हमारे आने का समाचार सुनकर घर के अंदर चला गया और कहलवा दिया—'रायसाहब टट्टी गये हैं।" हम कुछ देर बैठकर निराश होकर वापस आ गये। डेरे पर आकर मैंने अपनी अंतरात्मा से पूछा कि ऐसा क्यों हुआ ? उत्तर में अंतर्ध्वनि हुई कि इसका कारण यह है कि तूने अभी अपने आपको सर्वतोभावेन धर्म की सेवा में अर्पण नहीं किया है और तेरे मन में बची हुई संपत्ति के कारण अहंकार है। उसी समय मैंने निश्चय किया कि अहंकार की इसी बची हुई जड़ को भी उखाड़ फेंकूंगा। इसके बाद मैंने एक बाकायदा दानपत्र तैयार किया, जिसमें

जालंधर वाली कोठी को आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब को दान देने की घोषणा की गई। उस दानपत्र पर अपने दोनों पुत्रों हरिश्चंद्र तथा इंद्र के भी सहमतिपूर्वक हस्ताक्षर करा दिये।

पाठकगण ! यह कितनी प्रेरणाप्रद घटना है और सच्चे कार्यकर्ता कैसे होते हैं, इसका कैसा अनुपम उदाहरण है ? दान तो अपनी हैसियत के अनुसार लाखों और करोड़ों के भी दिये जाते हैं, पर कभी-कभी एक पैसे के दान का महत्त्व दस लाख रुपये से बढ़कर माना जाता है। स्वामी श्रद्धानंद का अपनी कोठी का दान, सामान्य दृष्टि से विचार करने पर कोई बड़ी बात नहीं थी, पर उन्होंने एक घटना के आधार पर स्वयं अपने आंतरिक विचारों की जो परीक्षा की और अपनी कमी का स्वयं पता लगाकर जिस प्रकार उसका निराकरण किया, वही एक ऐसी प्रेरणा है, जिससे कोई व्यक्ति आत्मोत्कर्ष के लक्ष्य की ओर प्रगति कर सकता है। सार्वजनिक सेवा के मार्ग में जहाँ परिश्रम, कष्ट-सहन, संलग्नता आदि की आवश्यकता होती है, वहाँ सच्चे त्याग-भाव का होना अनिवार्य है। इसी कमी के कारण प्रायः जन-नेताओं पर स्वार्थ सिद्धि का आरोप लगाया जाता है और वर्तमान समय में तो इसकी सचाई प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। यही कारण है कि आजकल 'नेता' शब्द श्रद्धा तथा सम्मान का सूचक होने के बजाय स्वार्थपरता तथा भ्रष्टाचार का प्रतीक बन गया है। कितने ही व्यक्ति तो आजकल 'नेता' कहलाना एक तरह की गाली मानते हैं ?

यह महात्मा गांधी और स्वामी श्रद्धानंद जी जैसे महामानवों का ही काम था कि जिन्होंने आरंभ में ही इस सच्चाई को समझ कर सब प्रकार की धन-संपत्ति और जायदाद से नाता तोड़ लिया और स्वयं इतने अकिंचन बन गये कि किसी व्यक्ति को तनिक भी संदेह करने या आक्षेप कर सकने की गुंजायश ही नहीं रही। यों मूर्ख लोग फिर भी कहते रहे कि 'गांधी जी ने करोड़ों रुपया इकट्ठा कर लिया, पर उनका महत्त्व अबोध बच्चों की बातों से अधिक नहीं माना जाता। यह हम भी नहीं कहते कि प्रत्येक कार्यकर्ता इसी तरह का त्यागी-संन्यासी बन जाये, पर यह स्पष्ट है कि सार्वजनिक क्षेत्र में आकर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्थिति

ऐसी साफ रखनी चाहिए कि उस पर किसी व्यक्ति को उंगली उठाने का अवसर न मिले। तभी वह वास्तव में कोई ऐसा काम कर सकेगा, जिससे इस लोक में ही नहीं, परलोक में भी उसकी आत्मा शांति का अनुभव कर सके।

दो महात्माओं का मिलन—

महात्मा गांधी की चर्चा आ जाने से यह स्मरण हो आया कि उनको 'महात्मा' की पदवी देने वाले स्वामी श्रद्धानंद जी ही थे। जब तक वे दक्षिण अफ्रीका में रहे, तब उनको यहाँ के सामयिक पत्रों में 'कर्मवीर गांधी' लिखा जाता था। उन्हीं दिनों गुरुकुल कांगड़ी के ब्रह्मचारियों ने अपने भोजन में से दूध का व्यवहार बंद करके और एक बाँध पर मजदूरी द्वारा ५५०० रु० इकट्ठे करके सत्याग्रह आंदोलन की सहायतार्थ अफ्रीका भेजे थे। यह रुपया गांधी जी को ऐसी आवश्यकता के अवसर पर मिला, जबकि आंदोलन का काम धन की कमी से अटक रहा था। यह सहायता पाकर उन्होंने स्वामी जी को निम्न पत्र भेजा था—

"प्रिय महात्मा जी ! श्री एण्डरूज ने मुझे आपके नाम और काम का परिचय दिया। उन्होंने मुझे यह भी बताया कि आप 'गुरुदेव' (श्री रवींद्रनाथ ठाकुर) और श्री रुद्र से किस प्रकार प्रभावित हुए हैं ? आपके शिष्यों ने सत्याग्रहियों के लिए जो कार्य किया है, उससे मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ और आपके प्रति अपना आदर व्यक्त करना चाहता हूँ।"

सन् १९१६ में गांधी जी जब भारत आये, तो बिना सूचना दिये ही गुरुकुल काँगड़ी पहुँचे। वह जब श्रद्धानंद जी की कुटिया में गये तो आदर और श्रद्धा से अभिभूत होकर उन्होंने स्वामी जी के पैर छुये। जब स्वामी जी ने परिचय पूछा तो उत्तर मिला—"मैं हूँ आपका छोटा भाई मोहनदास कर्मचंद गांधी।" स्वामी जी ने पुलकित होकर गांधी जी को गले से लगा लिया और बड़े प्रेम से उनको 'महात्मा' कहकर पुकारा। तबसे गांधी जी 'महात्मा' के नाम से ही प्रसिद्ध हो गये।

महात्मा गांधी, स्वामी श्रद्धानंद जी का सदा एक महापुरुष के समान आदर करते रहे। जब महर्षि दयानंद की आलोचना करने के कारण उनका स्वामी जी से मतभेद हो गया और स्वामी जी ने कांग्रेस को त्यागकर शुद्धि और संगठन का कार्य आरंभ कर दिया, तब भी इन दोनों 'महात्माओं' के व्यक्तिगत प्रेम-भाव में अंतर नहीं आया, वरन् गांधी जी ने स्वयं उस मतभेद की चर्चा करते हुए लिखा—

"उस मतभेद से उनका बाल-सुलभ स्वभाव ही मुझ पर प्रकट हुआ। परिणाम का विचार किये बिना ही उन्हें जैसा मालूम था, वैसी सच्ची बात उन्होंने कह दी। वे अति साहसी थे। समय बीतने के साथ-साथ हम दोनों के स्वभाव का जो अंतर था, उसे मैं देखता गया, पर उससे तो उनकी आत्मा की शुद्धता ही सिद्ध हुई।"

स्वामी श्रद्धानंद जी के बलिदान का समाचार पाकर गांधी जी ने कहा था—"वे वीरता और साहस के मूर्त-रूप थे। वे वीर के समान जिये और वीर के समान मरे। उनकी समस्त जिंदगी शानदार थी और अंत भी वैसा ही शानदार हुआ। काश ! मुझे भी स्वामी श्रद्धानंद की तरह शानदार मौत नसीब हो।" संयोग से गांधी जी की यह अभिलाषा ठीक इसी रूप में पूरी हुई और उससे उनका महत्त्व जीवित अवस्था की अपेक्षा भी बहुत अधिक बढ़ गया।

सत्य के अनुयायी—

स्वामी श्रद्धानंद जी जिस प्रकार अपने सिद्धांतों पर जीवन के अंतिम क्षण तक डटे रहे और उन्हीं की खातिर मृत्यु का भी निर्भय भाव से आलिंगन किया, वह स्थिति उनको सहज में प्राप्त नहीं हो गई थी। उनका आरंभिक जीवन बड़े उतार-चढ़ाव का रहा था। और उसमें एक समय मांस, मदिरा, वेश्या आदि दुर्व्यसनों का भी प्रत्यक्ष रूप में प्रवेश हो गया था। पर कुछ खोटे मित्रों की संगति से इन दोषों के आ जाने पर भी उनकी सत्यप्रियता और प्रतिज्ञापालन में कभी अंतर नहीं पड़ा। उन्होंने जब जिस बात को सत्य समझा अथवा जो कुछ प्रतिज्ञा की, उसे पूरा करके दिखाया। आरंभ में वे अपने परिवार वालों की तरह शिवजी तथा अन्य देवताओं में

विश्वास रखने वाले थे और नियमपूर्वक मंदिर में दर्शन करने जाते थे। इतना ही नहीं, अपने पिता श्री नानकचंद जी को नित्य प्रातःकाल शिवजी की पूजा करते देखकर, वे एक टूटे-फूटे मंदिर में से एक शिवलिंग उठा लाये थे और उस पर नियमपूर्वक जल चढ़ाया करते थे। स्कूल से वापस आकर घर तुलसी कृत रामायण का पाठ भी करते थे। काशी में रहते समय वे अपने पिता के साथ 'बुद्धू-भगत' नामक वैश्य की रामायण की कथा सुनने भी जाते थे और उनके उपदेश से प्रति रविवार को एक पैर पर खड़े रहकर हनुमान-चालीसा का पाठ कर लेने के पश्चात् भोजन करते थे।

पर जब उन्होंने काशी के विश्वनाथ के मंदिर में राजा-महाराजाओं के आगे सामान्य भक्तों का असम्मान होते देखा, तो शिवजी में, उनकी श्रद्धा में कमी आ गई। फिर चित्रकूट में 'लक्ष्मण यती की पहाड़ी' नामक स्थान पर जाकर उन्होंने पंडों की जालसाजी का एक और किस्सा सुना। उस चट्टान के पास धनुष-बाण का चिह्न बना था। पंडा कहते थे कि—वहाँ पर लक्ष्मण जी अपने अस्त्र-शस्त्र रखा करते थे, उसी का यह निशान बन गया है, जो नीचे तक सारी भूमि में है। एक योरोपियन ने कुछ वर्ष पहले इसको सुनकर इसकी परीक्षा करनी चाही और ५०० रु० इनाम देने का वचन दिया। इस पर खुदाई आरंभ हुई, पर नौ फुट के नीचे कोई चिह्न न मिला। इन नौ फुटों में भी मिट्टी की तह पर तह जमाकर उसे बनाया गया था। इस पर पंडा बड़े लज्जित हुये। यह हाल सुनकर मुन्शीराम जी के हृदय में भी पौराणिक 'धर्म' के संबंध में संदेह होने लगा।

जब इनके पिता की बदली मिर्जापुर को हो गई, तो वहाँ इन्होंने विंध्यवासिनी देवी के मेले का दृश्य देखा। पहले तो असंख्यों बकरों का बलिदान देखकर ही इनको घृणा हुई। फिर जब ये थाने की छत पर चढ़कर चारों ओर देखने लगे, तो उनकी निगाह एक राजा के डेरे पर पड़ी, जिसके यहाँ वाम-मार्ग के अनुसार एक नग्न-स्त्री की पूजा की जा रही थी। इससे इनका घृणा-भाव और भी बढ़ गया।

इसी मेले में एक और घटना हुई। उनके पिता लाला नानकचंद का एक अर्दली जोखू मिसर था। वह देवी के मंदिर में से बलिदान होने वाले बकरों के मस्तक लाकर उन्हीं को खूब पका कर खाता था। एक दिन उसकी मांस की हाँड़ी चूल्हे पर रखी थी कि लाला नानकचंद का दूसरा नौकर चूल्हे में से थोड़ी आग चिलम भरने को निकाल लाया। बस जोखू मिसर गुस्सा के मारे लाल हो गये और लगे अंट-शंट बकने। जब नानकचंद जी ने उससे इतना गुस्सा करने का कारण पूछा तो जोखू मिसर बोले—"सरकार, हम आपन धरम कबहूँ नहिं छोड़ा। अरे, हम झूठ बोला, जुआ खेला, गाँजा का दम लगाया, दारू पिया, रिश्वत लिया, चोरी-दगाबाजी किया, मुल (पर) सरकार अपना धरम नहीं छोड़ा। आज इसने हमारा चौका छूकर धरम भ्रष्ट कर दिया।" मुन्शीराम जी को जोखू मिसर का यह 'धर्म का ढोंग' देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे अपने मन में कहने लगे कि ये ब्राह्मण कैसे पाखंडी हैं, जो बेगुनाह जीवों का मांस खाने में तो संकोच नहीं करते और चौका छू जाने में ही 'अधर्म' समझते हैं।

इस प्रकार अनेक स्थानों में धार्मिक कहलाने वालों की लीलाएँ देखकर कुछ ही दिनों में इनका विश्वास प्रचलित 'धर्म' पर से बहुत कुछ हट गया। वे 'पाप-पुण्य' की बातों को केवल एक ढोंग समझने लगे और इसके परिणामस्वरूप युवावस्था में पहुँचकर स्वयं भी अनेक दुर्व्यसनों में ग्रस्त हो गये।

पतिपरायण पत्नी—

इनका छुटकारा इन दुर्व्यसनों से कैसे हुआ, इस संबंध में भी एक विशेष घटना बतलाई जाती है; जिससे भारतीय देवियों की महानता का पता चलता है। इनकी पत्नी श्रीमती शिवदेवी बड़ी पतिव्रता और सेवा-परायणा थीं। वे इनके सब दोषों को देखकर भी इनमें 'परमेश्वर' के समान भक्ति रखती थीं। इनको भोजन कराये बिना स्वयं कभी भोजन न करतीं और सोने से पूर्व अवश्य ही इनके पैर दबातीं।

एक दिन ये अपने कुसंगी मित्रों के साथ किसी वेश्या के यहाँ गये और वहाँ बहुत अधिक मदिरापान करके रात में बड़ी देर में वापस आये। तब तक शिवदेवी इनकी राह देखते हुये भूखी ही बैठी थी। घर पहुँचकर शराब के नशे के कारण इनको खूब उल्टी हुई, जिससे तमाम वस्त्र खराब हो गये। पत्नी ने बिना कुछ कहे-सुने इनकी पूरी तरह से सफाई की और दूसरे वस्त्र बदल कर पलंग पर लिटा दिया तथा स्वयं रात भर पंखा झलती हुई बैठी रहीं। सुबह जगने पर जब मुन्शीराम जी ने इनको इस प्रकार बैठे देखा और रात की सब घटना स्मरण आई, तो उनको अपने ऊपर बड़ी ग्लानि हुई और तब से उन दुर्व्यसनों को त्यागने की प्रतिज्ञा कर ली।

वर्तमान समय के अनेक नव-शिक्षित भारतीय स्त्रियों के 'पतिव्रत' आदर्श को मूर्खतापूर्ण बतलाते हैं। यह ठीक है कि कितने ही पुराणों में इसका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है और अनेक झूठे-सच्चे किस्से गढ़कर भर दिये हैं, तो भी इससे 'पतिव्रत' की महिमा नष्ट नहीं होती। महात्मा मुन्शीराम जी की पत्नी की यह घटना सिद्ध करती है कि एक सामान्य स्त्री भी संयम और सेवा-परायणता का परिचय देकर अपने बिगड़े हुए पति का किस प्रकार सुधार कर सकती है ? इसके विपरीत यदि वह लड़ाई-झगड़ा करती या किसी प्रकार से विपरीत मार्ग पर चलती तो इसका परिणाम दोनों के पतन के सिवाय और क्या होता ? भारतीय स्त्रियाँ इस प्रकार अपनी पवित्रता और सेवा-भाव से अब तक न जाने कितने पतियों को कुमार्ग से सुमार्ग पर ला चुकी है, जिनमें से श्रद्धानंद जी के आरंभिक जीवन का यह संस्मरण भी विशेष शिक्षाप्रद है।

तहसीलदारी से इस्तीफा—

जैसा ऊपर बताया गया है श्रद्धानंद जी के आरंभिक जीवन में कई प्रकार के उलट-फेर हुए, पर बाल्यावस्था से ही उनमें जो सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति थी, उसके कारण वे भ्रम और दोषों से बचकर क्रम से उस समय की परिस्थिति के अनुसार सही मार्ग पर आते चले गये। उनके पिता पुलिस-विभाग में कोतवाल के पद पर

काम करते थे और उनकी बदली निरंतर एक जिले से दूसरे जिले में होती रही। कुछ ही वर्षों में वे काशी, मथुरा, बाँदा, मिर्जापुर, बरेली आदि कितने जिलों में आते-जाते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि इच्छा होने और पढ़ने में तेज होने पर भी इनकी पढ़ाई ठीक ढंग से न हो सकी। इस कारण मैट्रिक की परीक्षा पास करने में इनको तीन वर्ष लग गये, फिर कॉलेज में दाखिल हुए तो वहाँ भी कई प्रकार के विघ्न आते रहे। इसलिए अच्छी योग्यता होते हुए भी ये कोई ऊँची परीक्षा पास न कर सके।

मुन्शीराम जी के दो भाई थानेदार के पदों पर काम करने लग गये थे, इसलिए लाला नानकचंद जी चाहते थे कि इनको किसी अन्य सरकारी नौकरी पर लगाया जाय। बरेली के कमिश्नर मि० एडवर्ड की उन पर विशेष कृपा थी। उनकी अनुमति से इनका नाम तहसीलदारी के लिए भेज दिया गया। कुछ ही दिन बाद नायब तहसीलदार छुट्टी पर गया, तो उसके स्थान पर इनको नियुक्त कर दिया गया। फिर थोड़े ही समय बाद तहसीलदार ने भी लंबी छुट्टी ली और ये उसके स्थान पर काम करने लगे। इनके पिता को तो पूरी आशा थी कि कमिश्नर साहब की कृपा से ये शीघ्र ही स्थायी तहसीलदार बन जायेंगे, पर किसी सिद्धांत पर चलने वाले व्यक्ति के लिए सरकारी नौकरी का निर्वाह कर सकना कठिन होता है। यह थोड़े ही समय में मालूम हो गया।

घटना इस प्रकार हुई कि बरेली से आठ-दस मील के फासले पर अंग्रेजी फौज ने अपना पड़ाव डाला और उसके लिए रसद पहुँचाने का प्रबंध इनके जिम्मे किया गया। इन्होंने वहाँ दुकानदारों से हर आवश्यक वस्तु की दुकानें खुलवा दीं। एक दिन फौजी गोरे सिपाहियों ने अंडे वाले से बिना दाम दिये अंडे छीन लिए। जब मुन्शीराम जी को इस अन्याय की खबर हुई, तो उन्होंने कर्नल से उन सिपाहियों की शिकायत की और कहा कि—यदि उस अंडे वाले के दाम तुरंत न चुकाये जायेंगे, तो मैं सभी दुकानदारों को वापस लौटा दूँगा। कर्नल साहब ने अपने फौजी रोब के साथ कहा—"ऐसा करोगे तो नुकसान उठाओगे।" ये तो निष्पक्ष स्वभाव के थे ही, तुरंत उत्तर दिया—"जो कुछ करना हो कर लेना !"

फौजी कर्नल अपनी आदत के माफिक इनकी तरफ आगे बढ़े। इनमें भी जवानी का जोश था, सो चाबुक लेकर तैयार हो गये। यह देखकर कर्नल साहब रुक गये और ये अपने घोड़े की पीठ पर बैठकर तेजी से दूर निकल गये। अपने कार्यालय में पहुँचकर इन्होंने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दाखिल कर दिया। कमिश्नर साहब ने बहुत समझाया और शीघ्र ही स्थायी तहसीलदार बनाने का वायदा भी किया। पर इन्होंने ऐसी अपमानपूर्ण स्थिति में रहना स्वगौरव के प्रतिकूल समझा और अपना इस्तीफा वापस न लिया।

घर में सुधार—

अनेक बार देखने में यह आता है कि लोग स्वयं तो सत्य-मार्ग पर चलते हैं, परोपकारमय जीवन भी बिताते हैं, पर उनके परिवार वाले जैसे के तैसे बने रहते हैं। यदि कोई इस संबंध में कुछ कहता है तो संबंधियों के दुराग्रह का वर्णन करके चुप हो जाते हैं। पर श्रद्धानंद जी ने इस तरह का मार्ग कभी नहीं अपनाया। हमेशा अपने विश्वास के अनुसार ही काम किया और जब अवसर आया घरवालों के विरोध का भी सामना किया।

जब उनके पिता को मालूम हुआ कि 'मुन्शीराम आर्य समाजी बन गया है, तो उनको बड़ा दुःख हुआ। वे कट्टर सनातनधर्मी थे। फिर सोचा कि समझाने-बुझाने से रास्ते पर आ जायेगा। जब वे कानून की पढ़ाई करते हुए छुट्टियों में अपने गाँव 'तलवन' को आये और वहाँ निर्जला एकादशी पर दान का संकल्प लेने से इनकार कर दिया, तो पिताजी बहुत नाराज हुए। फिर जब छुट्टी समाप्त होने पर लाहौर वापस जाने लगे तो पिताजी ने आज्ञा दी कि ठाकुरजी के सामने मत्था टेक कर जाना। इन्होंने विनयपूर्वक कहा कि—"मेरा विश्वास मूर्तियों में नहीं रहा। यदि आप केवल दिखावे के लिए झूठ-मूठ पूजा कराना चाहें तो दूसरी बात है।" अब पिता के पास कोई उत्तर न था, निराश होकर कहने लगे—"तुम्हें हमारी मूर्तियाँ पत्थर नजर आती हैं। हाय ! मेरे मरने पर कोई पानी देने वाला भी रहेगा या नहीं।"

मुन्शीराम जी ने पिता से विवाद करना निरर्थक समझा और घर से चल दिये। पिता ने जो रुपया पढ़ाई के खर्च को दिया था, वह उन्होंने अपने मित्र को देकर कहा—"इसे लालाजी को लौटा आना। जब मैं उनके विश्वास के अनुसार चलकर उनको प्रसन्न नहीं कर सकता, तो मैं उनकी आर्थिक सहायता का भी अधिकारी नहीं हूँ।" जब यह खबर पिताजी को मालूम हुई तो उन्होंने मित्र से उसी समय लौटकर मुन्शीराम के पास जाकर वह रुपया आग्रहपूर्वक दे देने को कहा। धार्मिक मतभेद हो जाने पर भी उनके पुत्र-स्नेह में कोई अंतर नहीं पड़ा था।

फिर जब लाला नानकचंद जी को अर्धांग रोग हो गया तो मुन्शीराम जी तुरंत उनकी सेवा करने को गाँव चले आये और उनकी देख-भाल में इतना परिश्रम किया कि वे प्रसन्न हो गये। तब वे इनसे आर्य-समाज के सिद्धांतों को भी समझने लगे थे और उन्हें समाज के उद्देश्यों से सहानुभूति हो गई।

जब पिताजी की मृत्यु हो गई, तो भाई-बिरादरी ने उनका अंतिम संस्कार पुरानी पद्धति से करने के लिए कहा। पर मुन्शीराम जी ने इसका विरोध करके पूरा संस्कार 'वैदिक विधि' से करने का ही निश्चय किया। उस समय उन्होंने किसी के विरोध की परवाह न की और अंत तक अपने निश्चय पर डटे रहकर वैदिक विधि से सब कार्य संपन्न कराये।

महानता के उच्च शिखर पर—

यही सत्यनिष्ठा और प्रतिज्ञापालन का गुण था, जिससे नायब तहसीलदार मुन्शीराम को भारत के एक माननीय नेता स्वामी श्रद्धानंद के रूप में बदल दिया। सन् १९१७ में बिना किसी गुरु या आचार्य को वरण किये जब उन्होंने संन्यास ग्रहण किया, तो 'श्रद्धा' मासिक पत्रिका के प्रथम अंक में ही अपने उद्देश्य इस प्रकार प्रकट किये—

"ब्रह्मचर्याश्रम की रक्षा और उद्देश्यों का ठीक प्रचार हमारा मुख्य उद्देश्य है। मैं देवनागरी लिपि को संसार की सब लिपियों का स्रोत और मनुष्य के लिए स्वाभाविक मानता हूँ। इसलिए अपने

सिद्धांतों और विचारों का प्रचार उसी के द्वारा करता हूँ। इस भू-लोक की सारी मिट्टी का उत्तम फल 'भारत-भूमि' थी और अब भी है। केवल भारत-पुत्रों ने धर्म के आदर्श से गिरकर मातृभूमि के गौरव को घटाया। संसार से यदि भोग और राज के दोषों को नष्ट करना है, तो पहले भारत-भूमि का तेज पुनः उत्तेजित किया जाना चाहिए। यह आत्मिक तेज ही सारे संसार में पुनः शांति का राज स्थापित कर सकता है।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वामी जी जब तक जीवित रहे, उन्होंने इस आदर्श को प्राणपण से निभाया और इसी के लिए २३ दिसंबर १९२६ को आततायी अब्दुल रशीद की गोली से अपने प्राणों की आहुति दे डाली। वास्तव में संसार में इस प्रकार के कथनी और करनी को एक करके दिखाने वाले महापुरुष थोड़े ही होते हैं। इनके निधन का समाचार पाकर विश्व-मानव रवींद्रनाथ ठाकुर ने उनका स्मरण इन शब्दों में किया—

"श्रद्धानंद का नाम ही सत्य में उनकी अगाध श्रद्धा का सूचक था। वे श्रद्धावान् रहे और श्रद्धा में ही आनंदपूर्ण रहे। उनके लिए सत्य और जीवन एक हो गये थे। उनकी मृत्यु भी उनके अथक कार्यों के अमर चित्रों को आलोकित करती हुई एक प्रकाश किरण की तरह हमारे सामने आती है।"

इन थोड़ी-सी पंक्तियों में स्वामी जी के जीवन की पूरी झाँकी आ जाती है। जो लोग अपनी सामान्य स्थिति या घरबार संबंधी कठिनाइयों का उल्लेख करके सार्वजनिक क्षेत्र में कोई सेवा-कार्य न कर सकने की दलील दिया करते हैं, उनके लिए स्वामी श्रद्धानंद का जीवन एक ज्वलंत प्रकाश के तुल्य है।

महापुरुषों के संबंध में भ्रांति—

महापुरुषों के संबंध में एक अद्‌भुत बात यह देखने में आई है कि लोग प्रायः उनके वास्तविक स्वरूप को समझ नहीं पाते और उनके विषय में मनमानी धारणा बना लेते हैं। स्वामी श्रद्धानंद जी जैसे आत्म-ज्ञानी और त्यागी पुरुष का किसी से राग-द्वेष रख सकना असंभव-सी बात थी, पर उनको शुद्धि और संगठन के कार्यों

के फलस्वरूप अनेक लोग मुसलमानों का विरोधी समझने लग गये और यह भ्रांति यहाँ तक बढ़ी कि अंत में एक कट्टर मुसलमान ने उनकी हत्या ही कर डाली। जनता की इस भ्रांति की चर्चा करते हुये सेठ गोविंददास जी ने अपने संस्मरणों में ठीक ही लिखा है—

"जो लोग समझते हैं कि स्वामी श्रद्धानंद जी मुसलमानों से घृणा करते थे, वे बड़ी भूल करते हैं। इस प्रकार की भूलों से तो इतिहास में न जाने कितने बड़े-बड़े अनर्थ हुए हैं। गांधी जी को कुछ लोग मुस्लिम-परस्त मानते थे, जिससे बड़ी गलत बात संभव नहीं है। मुसलमानों के प्रति समभाव रखते हुए भी गांधी जी से बड़ा और सच्चा हिंदू शायद इस काल में कोई दूसरा नहीं हुआ और मुसलमानों के प्रति समभाव रखने का नतीजा यह निकला कि एक धर्मांध हिंदू ने ही बापू की हत्या कर डाली। यही बात श्रद्धानंदजी के संबंध में भी हुई। कुछ मुसलमान उनको मुस्लिमद्रोही मानते थे और इन्हीं में से एक ने उनकी हत्या कर दी। क्या कहा जाय इस प्रकार के धर्मांधों के संबंध में ! एक जमाना था जब मुसलमान भी स्वामी जी के बड़े भारी अनुयायी थे। यह शायद इसीलिए कि स्वामी जी ने मुसलमान शहीदों के प्रति गहरी सहानुभूति दिखाकर उनके परिवारों की सहायता की थी। इसके फलस्वरूप स्वामी जी का दिल्ली की जामा मस्जिद तक में भाषण हुआ। हाँ, मुसलमानों के कई मतों से वे सहमत नहीं थे। अनेक मतों का उन्होंने खंडन किया और जो मुसलमान इस्लाम छोड़ हिंदू धर्म में आना चाहते थे, उनको स्वामी जी ने हिंदू भी बनाया। इसी से अप्रसन्न हो एक मुस्लिम ने उपर्युक्त धर्मांधता का घृणित से घृणित काम कर डाला। महात्मा गांधी सदृश्य हिंदू की एक हिंदू हत्या करे और स्वामी श्रद्धानंद के सदृश्य व्यक्ति की, जिसे भारत की सबसे बड़ी मस्जिद में भाषण देने का गौरव प्राप्त हो, एक मुस्लिम हत्या करे, यह जगत् की बड़ी से बड़ी विडंबनाओं में एक विडंबना ही है।"

वास्तव में महान् पुरुषों का दृष्टिकोण समदर्शी होता है। वे हृदय से किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं रखते, पर कर्तव्य-पालन के अवसर पर अन्यायी का विरोध करने में नहीं चूकते, चाहे वह अपना संबंधी हो अथवा कोई गैर। इसी कारण अनेक अविचारी

उनको अपना विरोधी अथवा शत्रु समझने लग जाते हैं और भ्रांतिवश इस प्रकार का दुष्कृत्य कर बैठते हैं।

हिंदू-संगठन और श्रद्धानंद जी—

इसमें संदेह नहीं कि सन् १९२३ के लभभग जो हिंदू संगठन का आंदोलन उठाया गया था, वह मुसलमानों के 'तबलीग' आंदोलन के मुकाबले में ही था। उससे पहले हिंदुओं के विभिन्न संप्रदाय अपनी पृथक्-पृथक् सभा-समाजें स्थापित करके कुछ सुधार-संबंधी प्रयत्न करते रहते थे, पर समस्त देश के हिंदुओं में जाग्रति करके उनको एक विशेष ध्येय की तरफ आकर्षित करने का प्रयत्न किसी ने नहीं किया था। जब मुसलमानों ने हिंदुओं को अपने धर्म में शामिल करने के लिए विशेष रूप से उद्योग करना आरंभ किया और उस संबंध में हसन निजामी की गुप्त पुस्तिका का भेद खुला, तो सबसे पहले स्वामी श्रद्धानंद जी और उनके कुछ सहकारियों ने ही 'संगठन' के प्रश्न को उठाया और बड़े जोर के साथ जनता के सामने रखा।

इससे पहले भी कुछ लोग इस संबंध में प्रचार करते रहते थे, पर उसका कोई खास प्रभाव देखने में नहीं आया था। पर स्वामी श्रद्धानंद जी जिस कार्य को उठाते थे, उसके लिए वे परिश्रम और आवश्यक व्यवस्था की कमी न रहने देते थे। इसीलिए एक-दो वर्ष के भीतर ही उनका आंदोलन देशव्यापी हो गया और केवल आर्य-समाजी ही नहीं सभी विचारों के बहुसंख्यक सुयोग्य कार्यकर्ता उसमें पूर्ण रूप से सहयोग करने लग गये। उदाहरण के लिए श्री सावरकर ने, जो एक प्रसिद्ध देशभक्त थे और अपने त्याग तथा बलिदान के कारण भारतीय युवकों के एक भाग पर जिनका बड़ा प्रभाव भी था, 'हिंदुत्व' की व्याख्या करते हुए लिखा था—

"हिंदू स्वयमेव एक राष्ट्र है। एक भौगोलिक निवास स्थान, एक भाषा, एक इतिहास, साहित्य का एक समान आविष्कार और एकता—ये पाँच कसौटियाँ लगाकर देखा जाय तो 'हिंदू' स्वयमेव एक राष्ट्र है, ऐसी धारणा तुरंत बन जायेगी। जिनके पास एक निश्चित भौगोलिक स्थान नहीं था, वह यहूदी जाति भी आज एक राष्ट्र के रूप में संसार के सामने उपस्थित है। फिर हिंदू-राष्ट्र की

कल्पना कैसे असंगत हो सकती है ? हिंदुओं के लिए निश्चित रूप से एक भौगोलिक आश्रय स्थान है और वह है भारतवर्ष। इतिहास बताता है कि जब कभी किसी हिंदू पर आपत्ति आई है, तो वह इसी भूमि की ओर आशा भरी दृष्टि से देखता रहा है।"

जब हिंदू-संगठन पर अन्य विचारधारा वालों ने आक्षेप किया, तो प्रसिद्ध देशभक्त भाई परमानंद जी ने उसका समर्थन करते हुए लिखा—"इस देश में हिंदू ही एक पुरानी जाति है, फिर भी वे अपने लिए कोई विशेष सुविधा नहीं चाहते। वे इस देश में रहने वाले सभी लोगों के लिए समान अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। पर यहाँ के मुसलमान, ईसाई आदि शक्तिशाली संप्रदाय अपने विशेष स्वत्वों के लिए राष्ट्रीय हितों को कुचलना चाहते हैं। उनके ऐसे राष्ट्र-विरोधी कार्य को रोकने के लिए ही हिंदू-संगठन किया जा रहा है।"

इसमें संदेह नहीं कि स्वामी श्रद्धानंद जी ने अपने दूरदर्शी विचारों और प्रयत्नों से कुछ ही समय में हिंदू जाति में एक ऐसी चैतन्यता उत्पन्न कर दी कि उसकी बहुत-सी निर्बलता दूर हो गई और वह अनेक क्षेत्रों में प्रगति करके समग्र राष्ट्र का हित साधन करने में समर्थ हुई।

❑ ❑

www.awgp.org
www.vichar-krantibooks.org

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।